भूमिका

उस मोबाइल फ़ोन के विज्ञापन को याद कीजिए जिसमें एक बच्चा आगे-आगे चल रहा होता है और एक कुत्ता उसके पीछे-पीछे। बच्चा जब बाथरूम में घुसता है तो कुत्ता दरवाज़े पर खड़ा हो जाता है, बच्चा जब नाई की दुकान में हजामत बनवा रहा होता है तो कुत्ता फिर बग़ल में खड़ा हो जाता है। यानी बच्चा जहाँ-जहाँ कुत्ता वहाँ-वहाँ। ये उस मोबाइल के सधे नेटवर्क की कहानी है, और मोटे तौर पिछले एक-डेढ़ दशक में हुए सांस्कृतिक बदलावों का एक महत्त्वपूर्ण सूचक भी।

ये बदलाव कई स्थापित पद्धतियों और प्रवृत्तियों की बेदखली और नेटवर्क समाज की स्थापना का संकेत हैं, जो किसी आसमानी या ज़मीनी फ़ितूर या करिश्मे की उपज नहीं हैं। काफ़ी हद तक विकास की एक ख़ास तरह की सोच और नीति के सहारे ये फलीभूत हो रहे हैं। अपने आस-पास की हलचलों पर ज़रा ठहर कर सोचें तो ये बात साफ़ हो जाती है। कारख़ानों की लंबी-चौड़ी दीवारों के अंदर भारी-भरकम मशीनों पर काम करते कामगारों की भारी जमात, और उन पर निगरानी वाला ज़माना अब लद चुका है। सूचनाओं और सॉफ़्टवेयर के नये संजाल ने उत्पादन के ढर्रे और एक हद तक उसके मायने भी बदल दिए हैं।

मौजूदा वैश्विक नेटवर्क समाज की बात करें तो इसने कई तरह के भौगोलिक चिह्न गढ़े हैं। सॉफ़्टवेयर पार्क, आउटसोर्सिंग केंद्र, डेटा पार्क कुछ ऐसी ही मिसाले हैं। सारी दुनिया में ये एक जैसे ब्रैंड और परिवेश से पहचाने जाते हैं। बिज़नेस प्रोसेस आउटसोर्सिंग (बीपीओ) उद्योग या कॉल सेंटरों के उठान को इसी कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

नेटवर्क कोई नयी परिघटना नहीं है और न ही एकरेखीय। इसका चरित्र, चाल और प्रकार विविधताओं से भरा है। औपचारिक-अनौपचारिक, दृश्य-अदृश्य, ताक़तवर-कमज़ोर, सख़्त-लचीला, स्थायी-अस्थायी, मूक-वाचाल। इसलिए सवाल यह उठता है कि नेटवर्क के इतिहास को कैसे समझा जाए? तमाम विविधताओं और विषमताओं के चलते वैश्विक संजाल बनते तो हैं लेकिन दुनिया के कई हिस्सों में

फैले कई दीगर संजाल नज़रअंदाज़ कर दिए जाते हैं। क्योंकि उन हिस्सों के बारे में राय ज़ाहिर करने के साधन उपलब्ध नहीं होते। किसी को ये भी पता नहीं होता कि उन हिस्सों में भी नेटवर्क की भाषा बोलने वाले लोग हैं। ऐसे में नेटवर्क की ज़बान एक गतिमान स्थानीय बोली बनकर रह जाती है।

यह भी सच है कि नेट-संस्कृति ने रचना, अभिव्यक्ति तथा आदान-प्रदान की अथाह संभावनाओं के द्वार खोल दिए हैं। ख़ासकर पिछले कुछ सालों में इसने मीडिया के क्षेत्र में बेहद प्रभावी हस्तक्षेप के अवसर सुलभ कराए हैं। ऐसा न होता तो बेरूत में हो रही ज़्यादतियों की ख़बर मैसूर की किसी कोठरी में बंद किसी व्यक्ति तक न पहुँच पाती, न ही बड़ी पूंजी दम चल रही मीडिया के मुक़ाबले जनपक्षधर मीडिया खड़ा करने की कोशिशें कामयाब हो पातीं।

यहाँ नेटवर्क संस्कृति के ज़रिए केवल आभासी दुनिया और उसके स्वरूप, संरचना, प्रवृत्ति और नतीजों पर चर्चा करना हमारा मक़सद नहीं है। इस ख़ास सांस्कृतिक परिवेश में हम शहरों में हो रहे अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को भी चिह्नित करना चाहते हैं। मसला सत्ता-प्रतिष्ठानों द्वारा बौद्धिक संपदा क़ानूनों को और सशक्त बनाने की वकालत का हो या फिर उसके बरअक्स एक मूल्य आधारित विकल्प तैयार करने की कोशिशों का, काम के बदलते मायने हों या नेटवर्क समाज द्वारा स्थापित किए जा रहे चिह्न - इन तमाम परिघटनाओं के मद्देनज़र आज के मीडिया शहर को समझना एक ज़रूरी सरोकार बनता है।

सरोकार यह भी बनता है कि नयी प्रौद्योगिकी और तकनीकी तथा समाज की अन्य तात्कालिक हलचलें किस तरह विभिन्न कलाओं और माध्यमों का रीमीडिएशन करती हैं, उस पर विचार किया जाए। सिनेमा, संगीत और प्रिंट में हो रहे नित नए-नए प्रयोग तो विशेष तवज्जो की माँग करते हैं।

ये सरोकार सराय के शोध-कार्यों का एक अभिन्न अंग रहे हैं। पिछले सालों में सराय ने न केवल इन सवालों पर मंथन किया है बल्कि समय-समय पर अपने प्रकाशनों के माध्यम से उसे जनता के सामने लाने की कोशिश भी की है। उन्हीं कोशिशों की कड़ी में 'मीडियानगर 01: दिल्ली पर एकाग्र' और 'मीडियानगर 02: उभरता मंज़र' के बाद हम 'मीडियानगर 03: नेटवर्क संस्कृति' पेश कर रहे हैं।

यूँ तो इस संकलन का फ़ोकस नेटवर्क है पर इसमें हमने फ़िल्म, संगीत, मीडिया, क़ानून समेत मौजूदा मीडिया शहर के विभिन्न सरोकारों को भी शामिल किया है। यही नहीं, पिछले अंकों के दौरान अपने मित्रों, पाठकों, आलोचकों और शुभचिंतकों की तरफ़ से आए सुझावों पर भी ग़ौर करने की हमने भरसक कोशिश की है। ख़ास कर मीडिया पढ़ने-पढ़ाने वाले दोस्तों की राय को पूरी तरजीह दी गयी है। यही वजह है कि नौ खंडों वाले इस मीडियानगर 03 में अख़बार, टेलीविज़न, विज्ञापन, इत्यादि विषयों पर भी चर्चा की गयी है।

नौ खंडों वाले इस संग्रह के पहले भाग 'सिने-माहौल' में रवि वासुदेवन बताते हैं कि अस्सी के दशक की फ़िल्मों में शहरी बेचैनी और राष्ट्र की छवियाँ भली-भाँति देखी जा सकती हैं। मुख्य रूप से ऐक्शन फ़िल्मों पर निगाह डालते हुए वे कहते हैं कि कहानी कहने के ढंग, दिलचस्पी और अचरज पैदा करने वाले दृश्य फ़िल्म में ख़तरे की स्थितियों से जुड़कर सामने आते हैं ...। फ़िल्म जिस संसार को गढ़ती है उसमें दर्शक एक तरह से फ़िल्म द्वारा दिखाए गए बेचैन आख्यान में प्रवेश करते हैं। इस तरह सिनेमा दर्शकों के सामने एक ऐसी स्थिति या छवि प्रस्तुत करता है जहाँ वे खुद को ख़ौफ़ और भय से भरी दुनिय से रू-ब-रू पाते हैं ... (*ख़ौफ़ का उन्माद: सिनेमा की शहरी बेचैनी*)। मौजूदा फ़िल्म उद्योग घिसे-पिटे लीक से हटकर कैसे नए मायने गढ़ रहा है और उसमें आज के पटकथा लेखकों और गीतकारों की रचनात्मकता कैसे युवा पीढ़ी के लिए उम्मीद की नयी रौशनी जगा रही है बता रहे हैं मिहिर। *बौराई-सी खुशबू और प्रसून जोशी की कबीराई* में समकालीन

पटकथा लेखकों और गीतकारों के कामों पर बारीक निगाह डालते हुए मिहिर बताते हैं कि मौजूदा दौर की फ़िल्मों में स्त्री चरित्रों को सशक्त, स्वाभाविक और मुखर अभिव्यक्ति प्रदान करने के मामले में प्रसून जोशी काफ़ी आगे तक जाते हैं। कई बार उन्हें प्रसून कबीर के साथ खड़े नज़र आते हैं। इसी खंड में देबश्री मुखर्जी बताती हैं कि मुंबई में फ़िल्मों और धारावाहिकों की शूटिंग के लिए जब मकान की ज़रूरत पड़ती है तो कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़ते हैं और शूटिंग के लिए किराए पर घर देते वक़्त मकान मालिकों के क्या-क्या शर्त होते हैं, तथा किस तरह मकान का रख-रखाव किया जाता है (*ये मेरा घर ये फ़िल्मी घर*)।

'संगीत-संस्कृति' वाले खंड में दीपक काद्यान बताते हैं कि हरियाणवी मौखिक परंपरा को किस प्रकार कैसेट उद्योग में स्थान मिला तथा तकनीकी और ढाँचागत परिवर्तनों से इस उद्योग पर क्या प्रभाव पड़ा। उन्होंने कैसेट उद्योग के स्वरूप तथा लोक-गायकों की कहानी के अलावा यह भी जानने का प्रयास किया है कि कैसेट उद्योग ने मौखिक परंपरा से केवल कुछ ही विषयों को क्यों अपनाया, तथा जब मौखिक परंपरा एक वृहत्तर उत्पाद में तब्दील हो जाती है तो वह उसकी कितनी प्रासंगिकता रह जाती है (*हरियाणा में कैसेट संस्कृति*)। खंड के दूसरे लेख *वसंत अब दूर नहीं : खेलों के शहर में संगीत का मेला* में नरेश कुमार जलंधर में लगने वाले हरिबल्लभ संगीत मेला के विकास-यात्रा की ऐतिहासिक पड़ताल करते हैं काव्यात्मक शैली में लिखा गया यह लेख पढ़ने में बेहद दिलचस्प है।

शीर्षक खंड 'नेटवर्क संस्कृति' में तीन महत्त्वपूर्ण लेख शामिल किए गए हैं। पहले लेख *नेटवर्किंग के सिद्धांत – क्रिटिकल इंटरनेट संस्कृति : कुछ अवधारणाएँ* में गीयर्ट लोविंक विभिन्न प्रकार के नेटवर्क के बनने और बिगड़ने की प्रक्रियाओं एवं चरणों का ज़िक्र करते हैं। उन्होंने अपने लेख में ख़ासकर इंटरनेट संस्कृति और इसकी बारीक बुनावटों की गहरी पड़ताल करते हैं। संगठित नेटवर्क की चर्चा करते हुए गीयर्ट बताते हैं कि "संगठित नेटवर्क एक संकर संरचना है, इसका एक हिस्सा टैक्टिकल मीडिया की तरह काम करता है और दूसरा हिस्सा संस्था की तरह और इन दोनों ही हिस्सों में कुछ लाभ हैं। संगठित नेटवर्क में जो चीज़ साफ़ तौर पर देखी जा सकती है, वह यह है कि इसका सांस्थानिक विस्तार संप्रेषण के सामाजिक-तकनीकी ढाँचे में अंतर्निहित है या उसके अंदर है। इसका मतलब यह है कि संगठित नेटवर्क के निर्माण का कोई सार्वभौमिक सूत्र नहीं होता।" *कला-कर्म पर X टीके: जालीय दुनिया की ज़िद्दी संरचनाएँ* में रक्स मीडिया कलेक्टिव नेटवर्क की बुनावटों पर दस अलग-अलग कोणों से विचार करता है। नेटवर्क में रिसाव का उल्लेख करते हुए रक्स कहता है, "... नेटवर्क काम कैसे करता है, और किस हद तक खुद को हमारी चेतना पर ज़ाहिर करता है? हम इसे रिसाव के रुपक से समझना चाहते हैं। व्यापक धरातल पर रिसाव उन कृत्यों को कह सकते हैं, जो ढाँचों की सतह पर उपलब्ध छिद्रों के मार्फ़त उसके अंदरूनी भाग में, उसके मर्म में दाख़िल होकर उसे कमज़ोर कर दे। रिसाव अपने आप में कोई वैकल्पिक रूप नहीं है – लेकिन यह ऐसी नयी स्थिति पैदा करने में सक्षम है कि संरचनाएँ नाज़ुक होकर, छीज कर बेकार हो जाएँ। इसके आधार पर हम एक वैकल्पिक कल्पना-क्रीड़ा अवश्य कर सकते हैं, हम देखने लगते हैं कि रिसाव के ज्वार-भाटे से दीवारों के चेहरे कैसे बनते-बिगड़ते हैं। संजालित दुनिया में रिसाव के ऐसे कितने ही कृत्य होते रहते हैं ...।" खंड के आख़िरी लेख *वैश्विक शहर में ई-स्पेस का मुहावरा* में सैस्किया सासेन यह बताती हैं कि सायबर स्पेस किस तरह से खण्डित है और किन जगहों पर अवस्थित है। इस खण्डित सायबर दुनिया में आर्थिक इलेक्ट्रॉनिक स्पेस और उसमें भी अर्थतंत्र के लगातार बढ़ते आंकिकीकरण (डिजिटलाइजेशन) की प्रक्रिया पर गहराई से विचार करते हुए वह इलेक्ट्रॉनिक स्पेस की अवस्थिति की दिशा में कुछ विश्लेषणात्मक रास्ते भी सुझाती हैं।

'वीडियोलीला' में गीयर्ट लोविंक से 'गुरिल्ला न्यूज़ नेटवर्क' के बारे में बात करते हुए स्टीफ़न मार्शल कहते हैं कि "हमारे यहाँ घटनाओं के पीछे षड्यंत्र सूंघने की मानसिकता हावी नहीं है। हम स्टोरी

और वीडियो तैयार करते समय पत्रकारिता के स्थापित मानकों का पालन करते हैं और उन्हें पूरी जाँच परख के बाद ही पाठकों के सामने लाते हैं (*गुरिल्ला न्यूज़ नेटवर्क: डिजिटल डॉक्यूमेंट्री का नया आयाम*)।" दिल्ली के जाक़िरनगर में वीडियो पार्लर की संस्कृति की पड़ताल करता ख़दीजा आरिफ़ का लेख *जाक़िरनगर की गलियों से गुज़रते हुए* बेहद दिलचस्प तथ्यों को हमारे सामने लाता है। कुछेक वीडियो पार्लरों में काम करने वाले लोगों के साक्षात्कारों के ज़रिए ख़दीजा बताती हैं कि कैसे परचून के दुकान वालों ने भी एक ज़माने में अपनी दुकानों को वीडियो पार्लरों में तब्दील कर लिया, कैसे किसी इलेक्ट्रिशियन ने रातोंरात खुद को वीडियो के धंधे में उतार लिया और कैसे दोस्तों के बीच एक-दूसरे से पहले वीडियो पर फ़िल्म का आनंद उठाने की होड़ लगा करती थी। इसी खंड में अंकुर खन्ना ने मुंबई में फ़िल्मों की सीडी-डीवीडी सप्लाई करने वाले शख़्स रहमत भाई का एक बड़ा ही दिलचस्प रेखाचित्र खींचा है (*क्या असली रहमत भाई ज़रा सामने आएँगे*) और मयूर सुरेश ने पाकिस्तान, इरान और इराक़ में हिन्दी फ़िल्मों की स्मगलिंग कर चुके एक शख़्स की जीवनयात्रा पेश की है (*पाकिस्तान, इरान और इराक़ में हिन्दी फ़िल्मों का स्मग्लर*)।

'मीडियाचार' में आनंद प्रधान बताते हैं कि "नागरिक पत्रकारिता वह विचार है जिसका समय आ गया है। मुख्यधारा के कई समाचार संगठनों और पत्रकारों की ओर से व्यक्त किए जा रहे संदेहों और उपेक्षा के भाव के बावजूद अब उसे रोकना संभव नहीं रह गया है। अगर सूचना के अधिकार ने ताक़त और गति दी है तो नए मीडिया और संचार माध्यमों ने इसे आसान बना दिया है (*नागरिक पत्रकारिता की दस्तक*)।" संकट की पत्रकारिता के संकट की पड़ताल करते हुए अरूंधति राय कहती हैं "इक्कीसवीं सदी में जोखिम-पत्रकारिता एक स्वतंत्र अनुशासन बन गया है। उसने लगभग विज्ञान का रूप अख़्तियार कर लिया है। जोखिम की इस पत्रकारिता के पीछे पैसा, तकनीक और जनोन्माद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संकटपूर्ण घटनाओं की रिपोर्टिंग में संकट को उसके ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक संदर्भों से हटा कर कुछ और ही रूप दे दिया जाता है। अन्ततः घटना की रिपोर्ट हवा में एक गुब्बारे की तरह तैरने लगती है। यह गुब्बारा पूरी दुनिया में उड़ान भरता रहता है और विशेषज्ञ, विश्लेषकों, विदेशी संवादाताओं तथा ख़तरों की फ़ोटॉग्रफ़ी करने वाले लोगों की जुगाली का विषय बन जाता है (*शांतिकाल*)।" इसी खंड में नर्मदा बचाओ आन्दोलन से लेकर देश भर में चल रहे तमाम नागरिक अधिकार संघर्षों के बारे में संजय काक के विचार भी शामिल किए गए हैं। राकेश कुमार सिंह से बातचीत के दौरान संजय वैकल्पिक मीडिया की ज़रूरत, इसके उपाय, 'दिल्ली फ़िल्म आर्काइव' शहर के बदलते चरित्र जैसे तमाम मुद्दों पर अपनी राय साझा करते हैं और बड़ी बेबाकी से कहते हैं, *मैं एक पॉलिटिकल फ़िल्ममेकर हूँ*।"

ख़बरिया चैनलों को बेपर्द करते 'पर्दे पर ख़बर' में आसीम ख़ाँ बताते हैं कि आजकल के न्यूज़ रूमों की प्रकृति क्या है, मुश्किल घड़ियों में संपादकीय फ़ैसले कैसे हुआ करते हैं, 'न्यूज़-सेंस' कैसे जेनरेट होता है तथा 'एयर-टाइम' का असली रूप क्या है (*ब्रेकिंग न्यूज़ का कालचक्र*), जबकि इन्हीं न्यूज़ चैनलों की भाषिक संस्कृति की पड़ताल करता है विनीत कुमार का लेख *'वर्दी में जल्लाद' अर्थात् निजी ख़बरिया चैनलों की भाषा*। खंड का आख़िरी लेख *तू गलियों का राजा मैं महलों की रानी उर्फ़ रमोला की प्रेम कहानी* 'ख़बर-निर्माण' पर राहुल पंडिता का एक करारा व्यंग्य है।

'इश्तहारनामा' में आनंद विवेक तनेजा दिल्ली स्थित एक विज्ञापन फ़िल्म-वितरण कंपनी पर चर्चा करते हुए फ़िल्म से जुड़े विज्ञापन और इसमें आए बदलावों से हमारा परिचय कराते हैं (*सैलवोज़ ऐडवर्टाइज़िंग*)। जबकि इसी खंड में दिल्ली के बिलबोर्डों और इश्तहारों पर अपने शोध अनुभवों को साझा करते हुए प्रभाष रंजन बताते हैं "विभिन्न तरह के प्रस्तुत्यों के साथ अलग-अलग स्थापित होने वाले संवादों ने अनुभवों के कई और आयाम जोड़े। तांत्रिकों, ज्योतिषियों, और धार्मिक होर्डिंग आदि के प्रति मेरे विशेष आग्रह ने उनके साथ विशेष संवाद स्थापित किया (*एक रिसर्चर की डायरी*)। इसी

खंड में गुप्त, पुरानी, और लाइलाज़ बीमारियों को जड़ से ख़त्म कर देने के इश्तहारी जंग पर आधारित एक फ़ोटो-फ़ीचर भी है (*बग़ैर उन्वान के*)।

'क़ानूनी निज़ाम' में जवाहर राजा के साथ बातचीत के दौरान दिल्ली के एक जाने-माने फ़ौजदारी वकील विप्लव मेहरा हिन्दुस्तान में कॉपीराइट क़ानून तथा फ़िल्म व म्यूज़िक पाइरेसी, संबंधित मामलों में अदालती कार्रवाई और इनसे जुड़े विभिन्न सरकारी महकमों की कार्यप्रणाली पर अपनी राय व्यक्त करते हैं (*एक फ़ौजदारी वकील से बातचीत*)। इसी खंड में पायरेसी की कामयाबी पर बात करते हुए मेंसो ह्यूज बताते हैं कि मनोरंजन जगत भविष्य के जो वायदे गढ़ता है पायरेसी उन्हें आज ही पूरा करने का दम-ख़म रखती है (*पायरेसी: नवाचार – चोरी और भविष्य की शक्ल तय करते बेयर क़ानून*)।

शहर के साथ प्रिंट के रिश्ते के तीन अलग-अलग पड़ावों को चिह्नित करते खंड 'इबारत-ए-शहर' में कमल कुमार मिश्रा जासूसी उपन्यासों के ज़रिए आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के मानकों, प्रकाशकों, लेखकों, पाठकों और आलोचना की ऐतिहासिक निर्मितियों पर ग़ौर करते हैं। हिन्दी व्यावसायिक प्रकाशन जगत के उनके इस पड़ताल के दौरान बनारस, इलाहाबाद और उत्तर भारत के कुछेक अन्य शहरों के प्रिंट इतिहास की भी झलक मिलती है (*हिन्दी जासूसी उपन्यास : इक सफ़र*)। बँटवारे के आसपास कानपुर से निकलने वाले महत्त्वपूर्ण अख़बार *वर्तमान* के पन्नों को पलटते हुए सौम्या गुप्ता बताती हैं कि "इस बारे में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि *वर्तमान* ने विभाजन को कानपुर व उसके निवासियों को अपने आग़ोश में ले लेने वाले एक फ़ौरी व अदम्य महाविनाश का रूप दे दिया था। ... यह एक ऐसा अख़बार था जिसके लिए विभाजन और पाकिस्तान का सवाल तमाम दूसरे सवालों से बहुत बड़ा था। इस प्रक्रिया में यह अख़बार कानपुर के बदलते चरित्र और उसके बदलते हुए राजनीतिक रुझानों का प्रतिबिंब था (*विभाजन की दैनिक हक़ीक़त, कानपुर की अख़बारी राजनीति: 1940 का दशक*)" आख़िर में लखनऊ और लखनऊ में चौक पर केंद्रित हिन्दी के मशहूर क़िस्सागो और प्रगतिशील लेखक अमृतलाल नागर के आसपास का एक चित्र खींचते हुए देवेन्द्र चौबे बताते हैं, "लखनऊ का चौक महज़ एक स्थान नहीं है, वह एक परंपरा है, संस्कृति है, लखनवी सभ्यता का जीता-जागता दर्पण है (*लखनऊ मेरा चौक!*)।

'रौशनी का रंगमंच' में वोल्फ़गांग शिवेलबुश प्रकाश के प्रवेश के बाद रंगमंच में आए बदलावों का एक विस्तृत निरीक्षण करते हैं। रौशनी के बाद न केवल रंगमंच के प्रकाश-व्यवस्था में आमूल-चूल बदलाव हुआ बल्कि सेट, साज-सज्जा, सौंदर्यबोध और प्रस्तुतिकरण में भी रैडिकल बदलाव हुए। किसी भी प्रेक्षागृह की प्रकाश-व्यवस्था को उसके सामाजिक चरित्र का सबसे विश्वस्त सूत्र मानते हुए शिवेलबुश कहते हैं "कि उन्नीसवीं सदी में नए क़िस्म की रौशनी के साथ मंच धीरे-धीरे रूपांतरित होता चला गया। उसने नयी चुनौतियाँ उठाते हुए सामने मौजूद नयी संभावनाओं का सदुपयोग किया। सचमुच की रौशनी ने पुराने क़िस्म की भ्रम पैदा करने वाली मंच रंगसाज़ी को समाप्त कर दिया (*रौशनी का रंगमंच*)।"

'फ़ील्ड नोट्स' में देबश्री मुखर्जी और राकेश कुमार सिंह के शोध अनुभवों के कुछ टुकड़े शामिल हैं। देबश्री का नोट मुंबई में फ़िल्म-निर्माण पर शोध के दौरान जुनियर आर्टिस्टों के बारे में उनका तजुर्बा है (*जूनियर आर्टिस्ट भर्ती फ़ॉर्म*) जबकि राकेश अपनी शोध डायरी के उन पन्नों को साझा कर रहे हैं जो नेहरू प्लेस मीडिया बाज़ार पर उनके बेहद शुरुआती अनुभव हैं (नेहरू प्लेस के नज़ारे)।

तो यही है 'मीडियानगर 03: नेटवर्क संस्कृति' की रूपरेखा। इस संकलन को तैयार करते वक़्त हमारी सचेत कोशिश रही है कि यह पारंपरिक शोध-पत्रों का एक और संकलन बन कर न रह जाए। यही वजह है कि एक तरफ़ इसमें बेहतरीन शोध से उपजे लेख हैं तो दूसरी तरफ़ इस मीडिया शहर में

रोज़मर्रा के तजुर्बों से गढ़े शब्दचित्र भी। कोशिश यही है कि मीडिया के क्षेत्र में दुनिया भर में जो भी प्रगति हो रही है उससे हिन्दी की दुनिया को अवगत कराया जाए तथा एक रचनात्मक बहस आरंभ किया जाए।

प्रयोग और रचनाकर्म पर हम बेहिसाब यक़ीन करते हैं। और इसलिए हमें यह स्वीकारने में भी कोई गुरेज़ नहीं है कि मीडियानगर 03 तक आते-आते हमने अपनी एक शैली विकसित की है। सच मानिए इससे हमें बड़ा फ़ायदा मिला है। अनुवाद के खिलाड़ियों को पता होगा कि कितना पेचीदा काम है यह। अनुवाद के दौरान कई बार जब हमें उपयुक्त शब्द नहीं मिले, डिक्शनरियों में छपे विकल्प नहीं जँचे तब हमने अच्छा-ख़ासा समय इन्हीं प्रयोगों में लगाया और नए शब्द गढ़े। भाषा के मामले में भी कई बार यही खेल दुहराए। ये भी क्यों न कबूल लें कि इस बार भी ज़्यादार लेख अंग्रेज़ी से अनूदित हैं। हालाँकि मूल रूप से हिन्दी में लिखे लेखों के लिए हम लगातार प्रयास कर रहे हैं, पर सफलता आंशिक ही मिली है।

हमें उम्मीद है कि इस बार भी आपसे रचनात्मक संवाद कायम होगा। आप इसी तरह हमारी हौसलाअफ़ज़ाई करते रहे तो मीडिया शहर के इर्द-गिर्द और भी सामग्री हम आप तक पहुँचाते रहेंगे।

राकेश कुमार सिंह

978.81.8143.631.3 Hardbond book

978.81.8143.632.0 Paperback book